आशौच का सिद्धान्त

विमर्शिनीय विषय-

आशौचपदार्थ, आशौचविशेष, प्रभवचिन्ता, आशौच व्याप्ति सम्बंध-(1. योनिसम्बन्ध 2. विद्यासम्बन्ध 3. यज्ञसम्बन्ध तथा 4. अन्य संसर्ग सम्बन्ध), सापिण्ड्यपदार्थ, आशौचसापिण्ड्य के भेद

प्रत्येक व्यक्ति में प्रधानतया शरीरात्मा, अन्तरात्मा व विशुद्धात्मा इन तीन आत्माओं की सत्ता मानी जाती है। इन्हीं को क्रमशः शरीर, सत्त्व व चेतना तथा भूतात्मा, जीवात्मा व क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं । इन तीनों में अन्तिम विशुद्धात्मा सर्वथा विशुद्ध है, दोषरहित है, अतः उसके संस्कार की आवश्यकता नहीं । गीता में भी क्षेत्रज्ञ को सर्वथा विशुद्ध, क्षेत्र के धर्मों से असंस्पृष्ट बतलाया गया है। शेष दो शरीर व सत्त्व दोषसंपृक्त हैं अत एव असंस्कृत हैं। अतः उनके संस्कार की अपेक्षा होती है। उनमें शरीर के संस्कार, दोषमार्जन व गुणाधान को प्रधानतया आयुर्वेद शास्त्र बतलाता है। और सत्त्वात्मा के संस्कार का प्रधानतया धर्मशास्त्र बोधन करता है। यह बात दूसरी है कि शरीर व सत्त्व के परस्पर सम्बद्ध होने से एक के लिए संस्कार बतलाने वाला शास्त्र गौणतया दूसरे के संस्कारों का भी बोधन करता है। जैसे शरीर के दोषमार्जन व गुणाधान का बोधक आयुर्वेदशास्त्र

शरीर से सम्बद्ध अन्तरात्मरूप सत्त्व के भी संस्कार का बोधन करता ही है। इसी तरह अन्तरात्मरूप सत्त्व के संस्कारों को बतलाने वाला धर्मशास्त्र तत्सम्बद्ध उस सत्त्व के आयतनभूत भूत, भौतिक शरीर तथा प्राणसमुदाय के संस्कारों का भी बोधन करता ही है।

संस्कार के अन्तर्गत, दोषमार्जन, गुणाधान व स्वस्त्याधान ये तीन तत्त्व आते हैं। इसमें दोषमार्जन के बिना न गुणाधान हो सकता है और न स्वस्त्याधान ही। अतः सर्वप्रथम दोषमार्जन की आवश्यकता होती है।

प्रज्ञापराध के कारण आहार-विहार आदि के लिए प्रयुक्त द्रव्यों के हीनयोग, मिथ्यायोग व अतियोग से सत्त्व के भीतर जो अशुभरूप मल संचित होते हैं उन मलरूप दोषों को हटाना ही दोषमार्जन है। दोषमार्जन ही शुद्धि संस्कार भी कहलाता है। चूँकि मल पाँच प्रकार के हैं अतः उनकी शुद्धि भी पाँच प्रकार की है।

1.शारीरिक मलमूत्रादि की शुद्धि

2.शय्या, आसन, वसन, भोजन, पात्र आदि द्रव्यों की शुद्धि

3.सापिण्ड्यादिसम्बन्ध के कारण एक दूसरे में

संक्रान्त होने वाले जननमरणादिनिमित्तक अघ की शुद्धि
4.प्रज्ञापराध के कारण चारित्र्यदोष से पैदा होने वाले पाप की शुद्धि
5.रज व तमोगुण की अधिकता से दूषित भावों की शुद्धि

इनमें जनममरणादिनिमित्तक अघ की शुद्धि बतलाना इस ग्रन्थ का विषय है और उस अघ का सम्बन्ध प्रधानतया सत्त्व (अन्तरात्मा) से है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि सत्त्वात्मा की शुद्धि ही प्रधानतया धर्मशास्त्र का लक्ष्य है, उसकी शुद्धि बिना शरीर व प्राणादि आयतनों के नहीं होती अतः उसकी शुद्धि का भी यहाँ बोधन आवश्यक है।

आशौचपदार्थ

वेद में बतलाये हुए कर्मों की फलसिद्धि के प्रतिबन्धक जन्म मृत्यु आदि से पैदा होने वाले अपवित्र एक अपूर्वविशेष को अघ कहते हैं। अन्य मलों से सम्पर्कवाला व्यक्ति ही अपवित्र होता है, किन्तु इस मल का उस व्यक्ति के सम्बन्धियों पर भी प्रभाव पड़ता है, और वे भी अशुद्ध हो जाते हैं।

इस अघ की ही आशौच संज्ञा है। पर इस अघ में अपवित्रता क्या है, इसमें मतभेद है। कोई ऐसा

मानते हैं कि इस अघ से व्यक्ति विहित कर्मों का अधिकारी नहीं रहता। अतः कर्मों में अनधिकारिता ही आशौच है।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि आशौच एक ऐसा पुरुष में रहने वाला मलिन अतिशय है जिससे कि पिण्डदान, उदकदान (तर्पण) व अध्ययन आदि कर्मों में व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता है ।

वस्तुतः संसर्ग, संसव आदि कारणों से संसर्गी पुरुष में एक अतिशय पैदा होता है वह अतिशय योनिसम्बन्ध व विद्यासम्बन्धवालों में अतिशय शीघ्रता से और विशेषरूप से पैदा होता है यह अतिशय ही आशौच कहलाता है।

आशौचविशेष

उपर्युक्त आशौच के कितने ही भेद हो जाते हैं। जैसे इस आशौच के कारण जन्म, मृत्यु, उत्तरक्रिया तथा दोष ये चार हैं अतः निमित्तभेद से इस आशौच के भी जन्माशौच, मरणाशौच, उत्तरक्रियाशौच व दोषाशौच ये चार भेद होते हैं। किन्तु ये चारों दोष स्वरूपतः भी आशौच में कारण पड़ते हैं और ज्ञायमान होकर भी।
अतः इस तरह से फिर आशौच के दो भेद हो जाते हैं वस्तुसदाशौच और वासनाशौच। दोषनिमित्तक आशौच ही वासनाशौच कहलाता है।

इनमें ज्ञायमान अधिष्ठान भेद से (आश्रयभेद से) यह आशौच तीन प्रकार का है। 1. स्पर्शाशौच, 2. कर्माशौच, 3 मङ्गलाशौच । जिसमें केवल शरीरस्पर्शमात्र का निषेध है वह स्पर्शाशौच कहलाता है और उसका आश्रय बहिःशरीर है। और जहाँ पर विहित वैदिक कर्मों का निषेध होता है वह कर्माशौच कहलाता है और उसका आश्रय अन्तः शरीर है। और जिस आशौच में विवाह, उपनयन, कन्यादान आदि माङ्गलिक कार्यों का निषेध होता है वह मङ्गलाशौच कहलाता है, और उसका आश्रय पुत्रादि का सत्त्वमात्र है। इस तरह अधिष्ठानभेद से यह आशौच तीन प्रकार का होता है।

प्रभवचिन्ता

जन्मकाल व मृत्युसमय में आशौच क्यों होता है इसका विचार प्रस्तुत ग्रन्थ में 'प्रभवचिन्ता' नामक प्रकरण में किया गया है। उसमें बतलाया गया है कि शरीर में दो प्रकार के धातु हैं— प्रसादभूत व मलभूत | गुरुत्व से लेकर द्रवान्त 20 गुण जो कि आयुर्वेदशास्त्र में चरक, सुश्रुत वाग्भट आदि में बतलाये गये हैं-

गुर्वादयस्तु गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्ण-

स्थिरसरसमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्म सान्द्रद्रवाः विंशतिः । (चरक सूत्र. 1/48)
गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिरः।
गुणाः सुसूक्ष्मविशदाः विंशतिः सविपर्ययाः॥
(वाग्भट सूत्र. 1/16)

तथा रस असृक्, मांस आदि 7 द्रव्य, प्रसादभूत धातु माने गये हैं-
अन्नाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥

क्योंकि इनके द्वारा शरीर की पुष्टि होती है। इसके विपरीत शरीर से पृथक् होने वाले तथा शरीर से बाहर की तरफ रुखवाले परिपक्व कफ आदि धातु मलभूत धातु कहलाते हैं, क्योंकि ये शरीर में हानि पहुँचाते हैं। उनमें आर्तवरूप यह स्त्रीरज, जिससे कि पुत्र- शरीर की उत्पत्ति होती है मलभूत धातु है। क्योंकि इसका शरीर से पृथक्करण होता है और इसका रुख भी बाहर की तरफ है। सभी आत्मा के लिए हानिप्रद होने से ही मल कहलाते हैं।

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि शरीर में चेतन, सत्व व शरीराग्नि इन तीन प्रकार की आत्माओं की स्थिति है। उनमें जो मल जिस

आत्मा के लिए हानिप्रद होता है, उसी आत्मा के लिए उस मल को अशुचिकर माना जाता है अन्य के लिए नहीं। जैसे शरीररूप आत्मा से परित्यक्त मूत्रपुरीषादि मल शरीररूप आत्मा के प्रति हानिप्रद हैं, अतः उनसे शरीर अशुचि होता है न कि सत्त्वात्मा, और उस शरीर का स्पर्श करने पर दूसरे के शरीर में ही वह आशौच संक्रान्त होता है न कि परकीय सत्त्वात्मा में।

गर्भस्राव व गर्भपात में डिम्भरूप से परिणत रजोभाग शरीर से परित्यक्त होकर शरीर से बाहर निकल जाते हैं; शरीर से परित्यक्त होने के कारण वे शरीर के लिए हानिप्रद हैं, अतः वे शरीर के आशौच को पैदा करते हैं। यदि गर्भस्राव व गर्भपात होने से पूर्व जीव भी गर्भ में पड़ चुका है तब तो गर्भस्राव व गर्भपात होने पर जीवात्मा का वियोग होने से भी उसमें अशुचित्व आ जाता है क्योंकि अधिष्ठानभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच धातु तथा चेतना इन छहों का समुदाय पुरुष कहलाता है। गर्भस्राव व गर्भपात में पाँचों भूत पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं और चेतना के अधिष्ठान नहीं रहते। अतः उस भौतिक शरीर में चेतना के वियोग के कारण अशुचिपना आ जाता है और वह शरीर अपवित्र हो जाता है, और उसका स्पर्श करने वाले दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी वह दोष संक्रान्त हो जाता है।

पुत्र का मातृगर्भ के साथ एक नाड़ी से सम्बन्ध बना रहता है। उस नाड़ी का छेदन प्रसवकाल में कर दिया जाता है। उस नाड़ी के छेदन से पुत्र सूती के शरीराग्नि से परित्यक्त हो जाता है तथा उससे सर्वथा पृथक् हो जाता है और इसी तरह सूती भी जातक की शरीराग्नि से परित्यक्त व पृथक् हो जाती है। अन्योन्य परित्याग के कारण वे दोनों ही मल कहलाते हैं तथा अशुचित्व के जनक हैं। इन दोनों में वर्तमान वह आशौच तत् सम्बन्धी पुरुषान्तरों में भी संक्रान्त होता है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि वह अशुचित्व सापिण्ड्यादि सम्बन्ध वाले व्यक्त्यन्तरों में भी संक्रान्त होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसवकाल में चेतनाधिष्ठानभूत पृथ्व्यादि पञ्चधातुओं का चेतना धातु से पृथक्करण होता है और इससे जो दोषविशेष होता है वही आशौच है। अर्थात् पुत्रोत्पत्ति से पूर्व गर्भस्थ पुत्र का एक नाड़ी द्वारा मातृगर्भ से सम्बन्ध रहता है और इस तरह उत्पत्ति से पूर्व पुत्र का मातृशरीरस्थ शरीराग्निरूप चेतना से भी सम्बन्ध होता है। किन्तु उत्पत्ति के बाद नाड़ीछेदन कर के मातृचेतना का सम्बन्ध पुत्र से हटा दिया जाता है। इस तरह उत्पत्तिकाल में चेतना के अधिष्ठानभूत धातुपञ्च का चेतनाधातु से पृथक् होना ही आशौच क्योंकि है। यह आशौच साक्षात् सम्बन्ध से माता तथा पुत्र में रहता है, के

पुत्र धातुपञ्चक का मातृचेतना से तथा माता के धातुपञ्चक का पुत्रचेतना से वियोग होता है। किन्तु परम्परा सम्बन्ध से यह आशौच माता के तथा पुत्र के सम्बन्धियों में भी संक्रान्त होता है।

मरणकाल में भी मृतपुरुष के धातुपञ्चक का चेतना से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है अतः वहाँ भी वह चेतना के अधिष्ठानभूत धातुपञ्चक का चेतना से पृथग्भावरूप आशौच मृतपुरुष के शरीर में साक्षात् तथा तत्संसर्गियों में परम्परया संक्रान्त होता है। यह आशौच सम्बन्धरूप सूत्र के द्वारा तत्सम्बद्ध सम्बन्धियों में भी संक्रान्त होता है। सम्बन्धसूत्रों का आगे निरूपण किया जाएगा।

उपर्युक्त रीति से चेतनारहित भूतविकार तथा चेतना के अपकर्षकधर्मवाला पदार्थ आशौच का प्रादुर्भावस्थान है। अर्थात् चेतनारहित भूतविकारों में चेतना के अपकर्षक धर्मवाले पदार्थ में आशौच का प्रादुर्भाव होता है। अतः ये ही आशौच के प्रभव अर्थात् उत्पत्तिस्थान हैं।

किसी एक व्यक्ति में आशौच जिन सम्बन्धों को लेकर दूसरे में संक्रान्त होता है वे सम्बन्ध चार प्रकार के हैं-

1. योनिसम्बन्ध
2. विद्यासम्बन्ध
3. यज्ञसम्बन्ध तथा

4. अन्य संसर्ग ।

1. योनिसम्बन्ध

किसी एक पुरुष से प्रारम्भ कर आगे जो उसकी सन्ततिपरम्परा चलती है वह गोत्र कहलाती है। एक गोत्र में वर्तमान एक शाखा वाले अथवा भिन्न शाखा वाले पुरुषों का जो परस्पर सम्बन्ध होता है यह योनिकृत सम्बन्ध कहलाता है। किन्तु यह आशौच एक गोत्र वाले सभी पुरुषों में संक्रान्त नहीं होता, अपितु मूलपुरुष से 21वीं सन्तान तक की इसकी सङ्क्रान्ति होती है और उन 21 में भी वह दोष समान रूप से सङ्क्रान्त नहीं होता, किन्तु ज्यों-ज्यों मूलपुरुष से विप्रकर्ष होता जाता है वैसे-वैसे उस आशौच में भी कमी आती जाती है। इसके लिए हम इन समान गोत्रवालों को तीन भागों में विभक्त करते हैं। उसी के अनुसार उनके आशौच में तारतम्य हो जाता है, जैसे मूल पुरुष से 7 वें पुरुष तक की सन्तानपरम्परा सपिण्ड कहलाती है, मूल पुरुष से 14 पुरुष तक की परम्परा सोदक कहलाती है तथा मूल पुरुष से 21 वें तक या उसके आगे की सगोत्र कहलाती है। इनमें सपिण्डों को अधिक आशौच, सोदकों को उस से कम, और 21 तक के सगोत्रों को उससे भी कम, और आगे सगोत्र होने पर भी आशौच की संक्रान्ति नहीं होती।

यह योनि (रक्त) सम्बन्ध भी 1. मुख्य, 2. आरोपित 3. तृतीय भेद से तीन प्रकार का है।

1.1 मुख्य सम्बन्ध

जो अपने गोत्र में पैदा होकर यावज्जीवन अपने गोत्र में रहते हैं और गोत्रान्तर में प्रवेश नहीं करते उनका अपने गोत्र वालों के साथ जो सम्बन्ध है वह मुख्य सम्बन्ध कहलाता है जैसे सोदर (सगे) भाइयों और बहिनों का तथा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि का परस्पर में मुख्य सम्बन्ध है।

1.2. आरोपित सम्बन्ध

आरोपित सम्बन्ध सगोत्रीकरण विगोत्रीकरण व विगोत्रसापिण्ड्य भेद पुनः तीन प्रकार का है। जो दूसरे गोत्र में पैदा हुआ है किन्तु बाद में उस गोत्र से हटाकर अपने गोत्र में प्रविष्ट कर लिए गये हैं उनका अपने सगोत्रीय पुरुषों के साथ सम्बन्ध सगोत्रीकरण कहलाता है क्योंकि विगोत्रीय का भी यहाँ सगोत्रीकरण हो जाता है। अतः इसे सगोत्रीकरण इस अन्वर्थ नाम से व्यवहृत किया जाता है। जैसे परगोत्र से आई हुई विवाहिता पत्नी का श्वशुरकुल वालों के साथ जो सम्बन्ध है वह यही सगोत्रीकरण है और इसी तरह दूसरे के कुल से आये हुए दत्तक पुत्रादिकों का प्रतिग्रहीता (दत्तक रूप से लेने वाले पिता) के कुल के साथ

जो सम्बन्ध है वह भी सगोत्रीकरण ही है।

अपने गोत्र में पैदा होकर जो संस्कार द्वारा दूसरे गोत्र के बन गये हैं उनका स्वगोत्र वालों के साथ जो सम्बन्ध है वह विगोत्रीकरण कहलाता है। क्योंकि स्वगोत्रीय होते हुए भी उनका संस्कार द्वारा विगोत्रीकरण कर दिया गया है जैसे स्वगोत्रीय दुहिता व दत्तक पुत्र आदि का विवाह व दूसरे के दत्तकरूप में चले जाने के बाद विगोत्रता हो जाने पर अपने पितृकुल वालों के साथ सम्बन्ध विगोत्रीकरण होता है। भिन्न गोत्रवाले सपिण्डों का अपने गोत्रवालों के साथ जो सम्बन्ध है वह विगोत्रसापिण्ड्य नामक सम्बन्ध कहलाता है जैसे माता के भाई व पिता के भाई आदि का अपने गोत्रवालों के साथ |

1.3 तृतीय सम्बन्ध

तृतीय सम्बन्ध भी अनेक प्रकार का है।

1.3.1. मुख्य सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों के मुख्य सम्बन्ध से सम्बन्धित जो व्यक्ति हैं उनका सगोत्रवालों के साथ सम्बन्ध इसी प्रकार का है। क्योंकि भाई का अपने गोत्रवालों के साथ मुख्य सम्बन्ध है और उसके पुत्र का उस भाई के साथ मुख्य सम्बन्ध है इस लिए भ्रातृपुत्र के साथ स्वगोत्रीय व्यक्तियों का सम्बन्ध इस तृतीय सम्बन्ध

की प्रथम श्रेणी में आता है।

1.3.2. मुख्य सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों के जो आरोपित सम्बन्ध से सम्बन्धी हैं उनके साथ अपने गोत्रवालों का सम्बन्ध द्वितीय प्रकार का है। जैसे भ्रातृपत्नी का स्वगोत्रवालों के साथ सम्बन्ध । यहाँ भाई का स्वगोत्रवालों के साथ मुख्य सम्बन्ध है और इस तरह मुख्य सम्बन्ध से सम्बन्धी भाई के साथ पत्नी का आरोपित सगोत्रीकरण सम्बन्ध है। अतः भ्रातृपत्नी के साथ स्वगोत्रीय व्यक्तियों का सम्बन्ध तृतीय सम्बन्ध की द्वितीय कोटि में आता है।

1.3.3. आरोपित सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों के जो मुख्य सम्बन्ध से सम्बन्धी हैं उनका स्वगोत्रीय व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध तृतीय श्रेणी का है। जैसे जामातृश्वशुर का स्वगोत्रीय व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध। यहाँ पर जामातृपत्नी के साथ स्वगोत्रीय पुरुषों का सगोत्रीकरणरूप आरोपित सम्बन्ध है और उस आरोपित सम्बन्ध से सम्बन्ध वाली जामातृपत्नी के साथ उसके पिता का मुख्य सम्बन्ध है। इस तरह जामातृश्वसुर के साथ स्वगोत्रीय पुरुषों का सम्बन्ध तृतीय सम्बन्ध की तृतीय श्रेणी में आता है।

1.3.4. आरोपित सम्बन्ध से सम्बन्धित के साथ जो आरोपित सम्बन्ध से सम्बन्धी हैं उसका

स्वगोत्रीय व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध तृतीय सम्बन्ध की चतुर्थ श्रेणी में आता है। जैसे जामातृश्वशुर के भाई के साथ स्वगोत्रीय व्यक्तियों का सम्बन्ध । जामातृपत्नी का स्वगोत्रवालों के साथ सगोत्रीकरणरूप आरोपित सम्बन्ध है और उस पत्नी का भी अपने पिता के भाई के साथ विगोत्रीकरणरूप अथवा विगोत्रसापिण्ड्यरूप आरोपित सम्बन्ध है।

सापिण्ड्यपदार्थ-

यह पहिले कहा जा चुका है कि योनिसम्बन्ध भी आशौच के परपुरुष में संक्रान्त होने का कारण है। यद्यपि योनिसम्बन्ध सहस्रों पीढ़ियों तक बना रहता है फिर भी आशौच 21 वीं पीढ़ी तक ही संक्रान्त होता है उस से आगे नहीं। उन में भी 7वीं पीढ़ी तक के पुरुष सपिण्ड कहलाते हैं, और इन सपिण्डों में सबसे अधिक आशौच की सङ्क्रान्ति होती है। इस से आगे सोदक (14 वीं पीढ़ी तक) के पुरुषों में इसकी उत्तरोत्तर न्यून सङ्क्रान्ति होती है। अतः आशौच की सङ्क्रान्ति में प्रधानतया कारण सापिण्ड्य ही ठहरता है और वह सापिण्ड्य 7वीं पीढ़ी तक ही रहता है। इसीलिए शास्त्रों में "सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्" “सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते" ऐसा कहा है। यह सापिण्ड्यपदार्थ है इसी का यहाँ निरूपण करना है। यह सापिण्ड्य

विवाह, दाय व अशौच, सभी में कारण पड़ता है। और ये तीनों सापिण्ड्य अर्थात् विवाहसापिण्ड्य, दायसापिण्ड्य तथा आशौचसापिण्ड्य परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। उनमें से यहाँ आशौच के उपयोगी आशौचसापिण्ड्य का निरूपण करना आवश्यक है अतः उसी का निरूपण सर्वप्रथम किया जा रहा है आशौचसापिण्ड्य निम्न प्रकार से चतुर्विध होता है-

1. अवयवसापिण्ड्य,
2. पुत्र में आधान करने योग्य सापिण्ड्य,
3. पितृपितामहादि पितरों में आधान करने योग्य सापिण्ड्य, तथा
4. देहत्यागोत्तर पित्रादियों में प्रत्यर्पण करने योग्य सापिण्ड्य

इस तरह चार प्रकार का है। इन सब सापिण्ड्यों का निरूपण भी पिण्डपदार्थनिरूपण के अधीन है। अतः सर्वप्रथम पिण्डपदार्थ का निरूपण किया जाता है।

पिण्डपदार्थ

मूलपुरुष, मूलपुरुष के शरीर का अवयव, शुक्रनिवाप, शोणितनिवाप, अन्नपाक तथा सोमद्रव्य व शोणित द्रव्य इस तरह से पिण्ड अनेक प्रकार का है।

उन अनेक प्रकार के पिण्डों में यहाँ शुक्रमय पिण्ड का निरूपण किया जायेगा।

पञ्चमहाभूतों का विकार व चेतना धातु शुक्र कहलाता है। इस शुक्र द्रव्य में सप्तकोशात्मक सोम का आधान होता है। सात कोशों में 28 कला का एक कोश है, 21 कला का दूसरा, 15 कला का तीसरा, 10 कला का चौथा, कला का पाँचवां, 3 कला का छठा, तथा 1 कला का सातवाँ कोश है। इस तरह मिलाने पर 84 कला का यह निवाप्य सोम होता है। यह 84 कलात्मक सोमद्रव्य कूटस्थ शुक्र में आहित होकर उसके शरीर का अवयव बन जाता है। इस 84 कलात्मक सोम द्रव्य के 3 भाग हैं। उन में 28 कला का एक भाग कूटस्थ का अपना है। तथा 28-28 कला के दो भाग पितृपितामहादि से उस में आते हैं। इस प्रकार कूटस्थ पुरुष के शुक्र में 84 कलात्मक सोमद्रव्य रहता है। जब कूटस्थ पुरुष (मूलपुरुष) पुत्र को पैदा करता है तब अपने 28 कलात्मक सोमकोश से 7 कलायें अपने में रखकर शेष 21 कलाओं का, पितृद्वारा प्राप्त 21 कलात्मक कोश में से 6 कलाएँ रखकर शेष 15 कलाओं का, पितामह द्वारा प्राप्त 15 कलात्मक कोश में से 5 अपने आप में रखकर शेष 10 कलाओं का, प्रपितामह द्वारा प्राप्त 10 कलात्मक कोश में से 4 अपने में रखकर शेष 6 कलाओं का, वृद्धप्रपितामह द्वारा प्राप्त 6

कलात्मक कोश में से 3 अपने में रखकर शेष 3 कलाओं का, अतिवृद्धप्रपितामह द्वारा प्राप्त त्रिकलात्मक कोश में से 2 अपने आप में रखकर शेष 1 कला का अपने शरीर से माता के शरीर में शुक्र का आधान करते समय आधान कर देता है। अवशिष्ट परमातिवृद्धप्रपितामह से प्राप्त कला का वह आधान कर नहीं सकता, क्योंकि उसका संतनन तभी हो सकता है जब वह उसे अपने आप में रख कर आगे उसका आधान कर सके । वह कम से कम एक कला तो अपने आप में रखेगा, उसके बाद संतनन आधान करने के लिए कुछ अवशिष्ट नहीं रहता । इस तरह क्रमशः 21, 15, 10, 6, 3, 1 कला वाले 6 कोशों का ही मातृशरीर में आधान व सन्तनन होता है। इसीलिए उन से उत्पद्यमान पुत्रशरीर षाट्कौशिक कहलाता है और पित्रादि से प्राप्त कला का आगे आधान द्वारा सन्तनन होता है। अतः उसे सन्तान कहा जाता है। इन 6 कोशों की कलाओं को मिलाने से 56 कलायें होती हैं। ये 56 कलायें पित्रादि द्वारा पुत्र को शरीरारम्भ के साथ ही प्राप्त हो जाती हैं। शेष 28 सौम्यकलायें 16 वर्षों में जाकर 28 नक्षत्रों पर चन्द्रमा के संचार से प्राप्त होती हैं। इस तरह इन 28 को मिला कर 84 कलात्मक सोमद्रव्य का आधान संतान के शुक्र में पूर्ण हो जाता है। इन 28 कलाओं की प्राप्ति 16 वर्ष में ही जाकर होती है। इसीलिये संतान में शुक्र का परिपाक 16 वर्ष

के बाद ही होता है पूर्व नहीं । उस से पहिले वह शुक्र अपरिपक्व व कच्चा रहता है। उससे बलिष्ठ संतान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मन भी सोमस्वरूप चन्द्रमा से बनता है। इसलिए मनस्विता व विचारशीलता भी मनुष्य में 16 वर्ष से पूर्व नहीं आती किन्तु इसके बाद ही आती है। अभियुक्तों (मनीषियों) का निम्नलिखित वचन भी इसी रहस्य को व्यक्त कर रहा है। जैसे-

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥

16 वर्ष में पुत्र के साथ मित्र की तरह समानता का व्यवहार करना चाहिये । जैसे मित्र से किसी विषय में मन्त्रणा की जाती है उसी तरह पुत्र से भी की जा सकती है, क्योंकि इस अवस्था में मन की 16 कलाओं की परिपूर्णता से उसमें मनस्विता (विचारशीलता) की शक्ति पैदा हो जाती है। इसी कारण से 16 वर्ष के बाद पुत्र को वयस्क (बालिग) स्वीकार कर लिया जाता है।

इसी रहस्य को समझाने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में यह स्पष्ट विवेचन किया गया है कि 15 दिन भोजन न करने से मन की एक कला शेष रह जाती है और उसमें मनन करने की शक्ति नहीं रहती, किन्तु फिर भोजन करने से उसकी

कलाओं की पूर्ति हो जाती है और पूर्ण मननशक्ति व भानशक्ति पैदा हो जाती है-

षोडशकलः सौम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममयः पिब, आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यते इति।।1।। स ह पञ्चदशाहानि नाश । अथ हैनमुपससाद किं ब्रबीमि भो इति, ऋचः सौम्ययजूंषि सामानीति । स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ 2 ॥ तं होवाच यथा सौम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवं सौम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तया एतर्हि वेदान्तानुभवसि, अशान, अथ मे विज्ञास्यसाति॥3॥ स ह आश अथ हैनमुपससाद । तं ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वे ह प्रतिपेदे॥4॥ तं होवाच यथा सौम्य महतोऽभ्याहतस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं । तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत् । तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ 5 ॥ एवं सौम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्, सा अन्नेन उपसमाहिता प्राज्वलीत् तया एतर्हि वेदाननुभवसि । अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्, इति ॥6॥ छान्दोग्य 6 अ 7 ख.।

मन का निर्माण सोममय अन्न से ही होता है। भुक्त अन्न के शरीर में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। जो सबसे स्थूल परिणाम है, वह पुरीष बन कर शरीर से बाहर निकल जाता है। अन्न का मध्यम

परिणाम रस, रुधिर, मांस आदि सप्तधातुमय होता है और उसी का सूक्ष्म परिणाम मन होता है। इस तथ्य का निरूपण भी छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है-

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसम्, योऽणिष्ठस्तन्मनः। छान्दोग्य 6 अध्याय 6 खण्ड । एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वं समुदीषति तन्मनो भवति ।

छान्दोग्य 6 अध्याय 7 खण्ड ।

वस्तुतः हम जो अन्न खाते हैं वह द्युलोक अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक तीनों के रस से बनता है। हम जब अन्न खाते हैं तब जठराग्नि के द्वारा अन्न का परिपाक होने पर उसके आरम्भक पार्थिव आन्तरिक्ष्य व दिव्य तीनों तत्त्वों का सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। और उसमें वर्तमान अमृत व मर्त्य भाग का विशकलन हो जाता है। मर्त्य भाग मलरूप में परिणत होता है और वह अपान द्वारा शरीर से बाहर कर दिया जाता है। अमृतभाग में भी विशकलित शुद्ध पार्थिव भाग रस, असृक्, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र रूप में क्रमशः परिणत होता जाता है। इस तरह उस अन्न में से पार्थिव भाग के सर्वथा हट जाने पर जो

आपोवाय्वात्मक आन्तरिक्ष्य भाग व विद्युत्सोमात्मक दिव्य भाग अवशिष्ट रहता है वह ओज धातुरूप में परिणत हो जाता है। इसके बाद आन्तरिक्ष्य भाग का भी सर्वथा पृथक्करण हो जाने पर जो शुद्ध विद्युत्सोमात्मक भाग बचता है वही मन बनता है। इसलिए यह मन अन्नमय होता हुआ भी अन्न के आरम्भक सोम भाग से बनता है। अतः मन अन्नमय व सोममय दोनों शब्दों से व्यवहृत होता है।

इस तरह पिता पुत्रशरीर का आरम्भ करते समय अपनी 28 कलाओं में से 21 का, पिता द्वारा प्राप्त 21 कलाओं में से 15 कलाओं का, पितामह द्वारा प्राप्त 15 कलाओं में से 10 कलाओं का, प्रपितामह द्वारा प्राप्त 10 कलाओं में से 6 कलाओं का, वृद्धप्रपितामह द्वारा प्राप्त 6 कलाओं में से 3 कलाओं का, अतिवृद्धप्रपितामह द्वारा प्राप्त 3 कलाओं में से 1 कला का मातृशरीर में आधान कर देता है। शेष अपनी 7 कला, पिता की 6 कला, पितामह की 5 कला, प्रपितामह की 4 कला, वृद्धप्रपितामह की 3 कला, अतिवृद्धप्रपितामह की 2 कला, तथा परमातिवृद्धप्रपितामह की 1 कला, इस तरह से मिला कर 28 कला अपने आप में रखता है।

उपर्युक्त रीति से इस बीजी पुरुष का अपने से 6 पूर्वज पित्रादिकों के साथ और 6 उत्तरभावी

पुत्रादिकों के साथ सम्बन्ध विद्यमान है क्योंकि पुत्र में आधान करने के बाद स्वयं बीजी पुरुष में 28 कलायें रहती है। जिनमें उस स्वयं बीजी पुरुष की सात कलायें हैं । शेष 6 पिता की, 5 पितामह की, 4 प्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की, 2 अतिवृद्धप्रपितामह की, व 1 परमातिवृद्धप्रपितामह की कलायें हैं। अतः उन कलाओं के कारण उसका अपने पूर्वभावी 6 पुरुषों के साथ सम्बन्ध है। और इसी तरह उसने पुत्रोत्पत्ति के लिए जिन 56 कलाओं का मातृशरीरद्वारा पुत्र में आधान किया है उनमें से 21 कलायें उस बीजी पुरुष की निजी कलायें हैं। उन कलाओं में से पुत्र स्वयं 6 रखता है और शेष 15 का पौत्र में आधान करता है। पौत्र भी 15 में से 5 स्वयं रखता है शेष 10 का प्रपौत्र में सन्तनन कर देता है। प्रपौत्र भीं 4 रखता है शेष 6 का वृद्धप्रपौत्र में आधान कर देता है । वृद्धप्रपौत्र भी 3 रखता है शेष 3 का अतिवृद्धप्रपौत्र में आधान कर देता है। अतिवृद्धप्रपौत्र भी 3 में से 2 रखता है शेष 1 का परमातिवृद्धप्रपौत्र में आधान कर देता है। इस तरह 21 कला का सन्तनन 6, में 5, 4, 3, 2, 1 इस क्रम से पुत्र से लेकर परमातिवृद्धप्रपौत्र तक की उत्तरभावी 6 सन्तानों में होता है और इसीलिये इसका उत्तरभावी 6 पुरुषों से भी सम्बन्ध हो जाता है।

उपर्युक्तरीति से देहत्याग से पूर्व जीवितावस्था में पुत्रोत्पत्ति के बाद इस बीजी (कूटस्थ) पुरुष का 6 पूर्वपुरुषों से और 6 उत्तर पुरुषों से सौम्यकलाओं के द्वारा सम्बन्ध रहता है। पूर्व 6 पुरुषों के साथ अपने आपको मिलाकर 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' की उपपत्ति होती है, और उत्तरभावी 6 पुरुषों के साथ भी अपने आपको मिलाकर 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' की उपपत्ति होती है।

पुत्रोत्पत्ति से पूर्व पिता आदि से इसको ऋणरूप में 56 सौम्य कलायें प्राप्त हुई थीं। अतः वह पित्रादियों का ऋणी होने से पितृऋणवाला बन जाता है।

6 पुत्रोत्पत्ति के बाद इसने 21 अपनी, 15 पिता की, 10 पितामह की, प्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की, 1 अतिवृद्धप्रपितामह की मिलाकर 56 कलाओं का पुत्र में आधान कर दिया है। अतः पितृऋण से मुक्त हो जाता है। फिर भी अवशिष्ट कलाओं में 7 को छोड़कर शेष 21 पित्रादि की है। अतः पुत्रादि की तरह पित्रादि 6 पुरुषों से भी अभी तक उसका सम्बन्ध बना हुआ है। इसीलिए उनकी तृप्ति के लिए वह श्राद्ध द्वारा स्वधारूप भोजन प्रतिवर्ष दिया करता है और तर्पण आदि भी किया करता है, किन्तु देहत्याग के

बाद वह पित्रादि की 21 कलाओं का उनमें प्रत्यर्पण कर देता है। अतः उनसे उसका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। अपने में आगत पितृपितामहादि की कलाओं का व अपनी कलाओं का पुत्र में आधान करने से उसने अपना स्वयं का तथा पित्रादि का सम्बन्ध स्वपुत्रादि से कर दिया है। अतः वे उनके ऋणी बन गये हैं, और वह स्वयं उनके ऋण से मुक्त हो चुका है, इसीलिये उसका पुत्र अब पितरों को स्वधा देता है व श्राद्ध करता है ।

यह स्पष्ट है कि देहत्याग से पूर्व इस व्यक्ति का अपने पूर्व 6 पितरों से में आधान करने सौम्य कलाओं द्वारा सम्बन्ध था। क्योंकि 56 कलाओं का पुत्र के बाद जो इसमें 28 कलायें बची थीं उनमें 7 इनकी स्वयं की थीं। शेष 21 में से 1 परमातिवृद्धप्रपितामह की, 2 अतिवृद्धप्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की, 4 प्रपितामह की, 5 पितामह की, व 6 पिता की थीं। देहत्याग के बाद इसने उन कलाओं का उन पितरों में प्रत्यर्पण कर दिया और वे कलायें उनमें वापिस चली गईं। परमातिवृद्धप्रपितामह का केवल 1 कला को लेकर मर्त्यलोक से सम्बन्ध बना हुआ था। उसके वापिस मिल जाने के बाद अब वह सर्वथा इस मर्त्यलोक के बन्धन से मुक्त हो चुका है। अब वह निर्मुक्त है तथा पितर श्रेणी से पृथक् हो गया है और पुत्र

का जिन 6 पितरों से सम्बन्ध इन सौम्य कलाओं को लेकर बना रहता है उनमें अब उस पुत्र का पिता सम्मिलित हो गया है, जिसने कि देहत्याग के बाद अपने पूर्वजों की कलाओं को वापिस लौटाया था। पुत्र के पिता ने परमातिवृद्धप्रपितामह को छोड़ कर शेष पितरों की कलाओं का आधान अपने पुत्र में किया है क्योंकि उसने पुत्र को जो 56 कलायें दी हैं उनमें 21 अपनी हैं, 15 पिता की, 10 पितामह की, 6 प्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की तथा 1 अतिवृद्धप्रपितामह की है। अतः उन कलाओं को लेकर उनका सम्बन्ध पुत्र से व मर्त्यलोक से बना हुआ है। इसलिये वे पुत्र से श्राद्ध व स्वधाकार प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

यही सौम्यकलात्मक श्रद्धासूत्र है जिस श्रद्धासूत्र के द्वारा पुत्र का अपने 6 पितरों से तथा पितरों का अपने पुत्र से सम्बन्ध बना हुआ है। इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा श्राद्धक्रिया में प्रदत्त भोजनादि पितरों के पास पहुँचता है। इस तरह 6 पितर और एक पुत्र को लेकर "सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्" की उपपत्ति निरन्तर बनती रहती है। पहिला पितर जैसे ही अपनी सौम्यकलाओं के पूरी वापिस मिलने पर मुक्त होता है वैसे ही नवीन पितर उनमें आकर सम्मिलित हो जाता है और 6 पितरों की संख्या पूर्ववत् बनी रहती है। 7 वां स्वयं पुत्र होता ही है। इस तरह सात संख्या में कोई बाधा नहीं पहुँचती

और न अधिक ही संख्या होने पाती है। इसीलिये श्राद्ध 6 पितरों का ही किया जाता है इससे अधिक का नहीं क्योंकि 6 से ऊपर के पितरों के साथ सौम्यकला का सम्बन्ध टूट चुका है। न उन्हें श्राद्ध की आवश्यकता है और श्रद्धासूत्र के अभाव से न उन तक वह पहुँच ही सकता है।

इतने सन्दर्भ से निष्कर्ष यह निकला कि सोममय 84 कलात्मक शुक्रनिवाप पिण्ड है और उन कलाओं का सम्बन्ध सात व्यक्तियों में ही रहता है अधिक में नहीं। जैसे ही उन कलाओं का सम्बन्ध आगे बढ़ता है अर्थात् उनका भावी सन्तानों में संतनन होता है, वैसे ही पूर्व पूर्व से विच्छिन्न होता जाता है और वह सम्बन्ध सात तक ही रहता है। अतः 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' यह उक्ति तथा 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ हो जाती है।

1. अवयवसापिण्ड्य

इन 84 कलाओं में 28 कलायें कूटस्थ बीजी पुरुष की हैं जिनका सम्बन्ध केवल मूलपुरुष के शरीर से है। वह उनमें से 7 को रख कर शेष का क्रमश: 65-4-3-2-1 के अनुपात से पुत्र पौत्र, प्रपौत्र, वृद्धप्रपौत्र, अतिवृद्धप्रपौत्र, परमातिवृद्धप्रपौत्र में आधान करता है। और इस मूल पुरुष का उन

कलाओं को लेकर उन 6 अपत्यों से सम्बन्ध बना रहता है।

इस तरह इस 28 कला वाले पितृरूप एक शरीर में वर्तमान पिण्ड का 7-6-5-4-3-2-1 के भेद से 7 पिण्डों में विभाग हो जाता है तथा उस 28 कलात्मक पिण्ड के द्वारा पिता से लेकर परमातिवृद्धप्रपौत्र तक के सात व्यक्तियों का परस्पर में सापिण्ड्य सम्बन्ध बन जाता है। यही प्रथम अवयवसापिण्ड्य कहलाता है क्योंकि पितृरूप एक शरीर में वर्तमान 28 कलात्मक मूलपिण्ड के ही 7 भेद हो कर यह सापिण्ड्य सम्बन्ध हुआ है।

2. पुत्र में निवाप्य सापिण्ड्य

यह सापिण्ड्य जिस पिण्ड की अपेक्षा से बनता है वह मूलपिण्ड 84 कला वाला है। परमातिवृद्धप्रपितामह से ले कर स्वयं कूटस्थ पुरुष तक के सात शरीरों के अवयव वाला यह मूलपिण्ड कूटस्थ में रहता है। किसके कितने अवयव हैं ? यह पहिले भी बतलाया जा चुका है और स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये यहाँ भी बतला दिया जाता है। इन 84 कलाओं में से परमातिवृद्धप्रपितामह की 1, अतिवृद्धप्रपितामह की 3, वृद्धप्रपितामह की 6, प्रपितामह की 10, पितामह की 15, पिता की 21 व स्वयं कूटस्थ की

28 कलायें हैं। इन 84 कलात्मक सप्तशरीरावयव निवाप्य मूलपिण्ड के द्वारा 6 पितरों का कूटस्थापत्य से सम्बन्ध है। परमातिवृद्धप्रपितामह से आरम्भ कर स्वयं बीजी पुरुष तक 7 पुरुषों के सम्बन्ध का सूत्र यही 84 कलात्मक मूलपिण्ड है।

3. पितरों में आधेय सापिण्ड्य

यह पहिले स्पष्ट किया जा चुका है कि 84 कलात्मक पिण्ड में से पिता (कूटस्थपुरुष) पुत्र में 56 कलाओं का निवाप (आधान) कर देता है। उन 56 कलाओं में 21 कला स्वयं की, 15 पिता की, 10 पितामह की, 6 प्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की तथा 1 अतिवृद्धप्रपितामह की हैं। और 28 अपने आप में रखता है। जिनमें 7 स्वयं की, 6 पिता की, 5 पितामह की, 4 प्रपितामह की, 3 वृद्धप्रपितामह की, 2 अतिवृद्धप्रपितामह की, 1 परमातिवृद्धप्रपितामह की हैं। इस प्रकार 84 कलाओं में से 56 कलाओं का जो ऋण पितरों से प्राप्त किया था उसमें से 35 कलाओं का ऋण उसने आगे पुत्र में आधान करके चुका दिया है और वह उतने ऋण से अनृण हो गया है। फिर भी 21 कलायें पितरों की उसके पास अभी तक बची हुई हैं जिनका प्रत्यर्पण वह पितरों को देहत्याग के बाद करेगा। यद्यपि 56 कलाओं का आधान उसने पुत्र में कर दिया है किन्तु उनमें 21

स्वयं की ऋणरूप से उसने पुत्र को दी हैं और शेष 35 पितरों की कलायें दी हैं अतः देहत्याग से पूर्व अपने पूर्वज पाँच पितरों का ऋण पुत्रोत्पत्ति के बाद भी 21 कलाओं के रूप से उसमें विद्यमान है। और इन कलाओं का देहत्याग से पूर्व वह पितरों को प्रत्यर्पण भी नहीं कर सकता, क्योंकि ये बची हुई 28 कलायें जिनमें 21 पितरों की हैं व 7 अपनी हैं शरीरधारण के लिये अपेक्षित हैं। अतः वह पुत्र (कूटस्थपुरुष) देहत्याग से पूर्व उसके बदले में पिण्डभाग को चाहने वाले पितरों को श्राद्धक्रिया द्वारा पिण्डदान करता रहता है।

देहत्याग के बाद पुत्र में आधान करने से बचे हुये पितरों के 21 कलात्मक भाग को वह अपने पितरों को देता है तब उसके पास पितरों का कोई धन नहीं बचता है। अब वह निजी 7 कलाओं को ले कर ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे श्राद्ध करने की तथा तद्द्वारा पितरों को पिण्ड देने की आवश्यकता नहीं। अब उस स्वयं (बीजी पुरुष) का तथा जिन पितरों का पिण्डभाग जिस उत्तरवर्ती सन्तान में गया है वह सन्तान उनकी ऋणी है। अतः तत्परिहारार्थ पिण्डदान करना व श्राद्ध करना उस सन्तान का कर्त्तव्य हो जाता है। श्राद्धक्रिया द्वारा जो पितरों के आप्यायनार्थ पितरों को पिण्डदान दिया जाता है वह पिण्ड अन्नमय होता है और उन पिण्डों का आधान पितरों को होता है।

इसी अन्नमय पिण्ड के द्वारा श्राद्धकर्त्ता पुरुष का अपने 6 पितरों से सम्बन्ध रहता है। इस अन्नमय पिण्ड द्वारा वर्तमान सापिण्ड्य सम्बन्ध ही पितरों में आधेय सापिण्ड्य कहलाता है। यह श्राद्धकर्त्ता पुरुष जिन 6 पितरों को पिण्डदान करता है और उस पिण्ड द्वारा अपना सम्बन्ध उनसे रखता है, उन पितरों में 3 पिण्डभागी पितर हैं तथा 3 लेपभागी हैं। जिनका अधिक भाग बीजीपुरुष में है वे पिण्डभागी हैं तथा जिनका न्यून है वे लेपभागी हैं। अधिक भाग पिता, पितामह व प्रपितामह का है अतः वे पिण्डभागी हैं, तथा वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह तथा परमातिवृद्धप्रपितामह का न्यून है अतः वे लेपभागी हैं। इसीलिये श्राद्ध में पित्रादि तीन को ही पिण्डदान दिया जाता है, शेष को नहीं

"लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां, सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥"

यह वचन भी इसी तथ्य को प्रमाणित कर रहा है।

4. उत्तरसापिण्ड्य

देहत्याग के बाद बीजीपुरुष पितरों को उनका बचा हुआ भाग भी लौटा देता है और इस तरह अपनी वर्तमान 28 कलाओं में से सात कलाओं द्वारा अपने शरीर को धारण करता हुआ 6 पित्र्यकलाओं को पिता को दे कर पिता से, 5 पितामहीय

कलाओं को पितामह को दे कर पितामह से, 4 प्रपितामहीय कलाओं का प्रपितामह में प्रत्यर्पण कर प्रपितामह से, 3 वृद्धप्रपितामहीय कलाओं का वृद्धप्रपितामह में प्रत्यर्पण कर वृद्धप्रपितामह से, 2 अतिवृद्धप्रपितामह की कलाओं का अतिवृद्धप्रपितामह में प्रत्याधान कर अतिवृद्ध प्रपितामह से, 1 परमातिवृद्धप्रपितामह की कला को परमातिवृद्धप्रपितामह को वापिस देकर उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस तरह उन 21 कलाओं के प्रत्यर्पण द्वारा उसका अपने 6 पितरों से जो एक प्रकार का सम्बन्ध होता है वह प्रत्यर्पणसापिण्ड्य कहलाता है। यह सापिण्ड्य भी सात पुरुषों में होने से साप्तपौरुष है।

इस तरह पित्रादि से प्राप्त कलाओं का उनमें प्रत्यर्पण हो जाता है। और पुत्रादि में आधान के द्वारा विच्छिन्न कलाओं का पुनः अपने मूलपिण्ड के साथ एकीकरण हो जाता है इसी आशय से यह सापिण्ड्य कहलाता है।

वस्तुतः कलाओं का पित्रादि में प्रत्यर्पण करने के बाद उनके किसी भाग का उसमें शेष न रह जाने से उसका पितरों से सम्बन्ध अब हट जाता है।

उपर्युक्त रीति से चार प्रकार का सापिण्ड्य है और यह चारों ही प्रकार का सापिण्ड्य आशौचसङ्क्रान्ति में कारण बनता है अतः उसका

यहाँ कुछ विस्तार के साथ निरूपण कर दिया गया है।

इन 4 प्रकार के सापिण्ड्य की मूल कलाओं, आत्मनिधेय कलाओं व पुत्रादि में निवाप्य कलाओं का स्पष्टीकरण करने के लिए नीचे यह परिलेख दिया जाता है।

सप्तकोशचक्र			
	मूलकला	आत्मनिधेय कला	निवाप्यकला
परमातिवृद्धप्रपितामहकला	1	-1	0
अतिवृद्धप्रपितामहकला	3	-2	1
वृद्धप्रपितामहकला	6	-3	3
प्रपितामहकला	10	-4	6
पितामहकला	15	-5	10
पितृकला	21	-6	15
स्वकला	28	-7	21
सप्तकोशकलायोग	84	-28	56

दायसापिण्ड्य

- दायसापिण्ड्य में प्रथमतः दाय के अधिकारी चार पुरुष होते हैं। 1. स्व, 2. पुत्र, 3. पितामह तथा 4 प्रपितामह । इन चारों के पुत्र पौत्र व प्रपौत्र भी दाय के अधिकारी होते हैं। अतः इन चारों का एक-एक वर्ग बन जाता है और इस तरह स्ववर्ग, पितृवर्ग, पितामहवर्ग, और

प्रपितामह वर्ग ये चार वर्ग दायविभाग में बन जाते हैं। प्रत्येक वर्ग में चार व्यक्ति होते हैं,जैसे-

स्ववर्ग में-

1. स्व, 2. स्वपुत्र, 3. स्वपौत्र, व 4. स्वप्रपौत्र ।

पितृवर्ग में-

1. पिता, 2. पितृपुत्र, 3. पितृपौत्र, व 4. पितृप्रपौत्र ।

पितामहवर्ग में -

1.पितामह, 2. पितामहपुत्र, 3. पितामहपौत्र, व 4. पितामह प्रपौत्र ।

प्रपितामहवर्ग में-

1.प्रपितामह, 2.प्रपितामहपुत्र, 3.प्रपितामहपौत्र, 4. प्रपितामहप्रपौत्र ।

इस तरह मिलाकर 16 पुरुष दाय के अधिकारी हैं तो भी यह 16 व्यक्ति वंशक्रम के अनुसार सात पुरुषों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। जैसे प्रपितामह प्रथम पुरुष, पितामह व प्रपितामहपुत्र द्वितीय पुरुष, पिता, पितामहपुत्र व प्रपितामहपौत्र तृतीय पुरुष, स्व (कूटस्थ) पितृपुत्र, पितामहपौत्र, प्रपितामहप्रपौत्र चतुर्थ पुरुष, स्वपुत्र, पितृपौत्र व पितामहप्रपौत्र पञ्चम पुरुष, स्वपौत्र व पितृप्रपौत्रषष्ठ पुरुष तथा स्वप्रपौत्र सप्तम पुरुष । इस तरह प्रपितामह कक्षा, पितामह कक्षा, पितृकक्षा, स्वकक्षा, पुत्रकक्षा, पौत्रकक्षा व प्रपौत्र- कक्षा को लेकर सात ही कक्षा (पीढ़ी) बन जाती हैं। इसलिए दायसापिण्ड्य भी सापिण्ड्य है, और सापिण्ड्य सम्बन्ध 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' इस वचन के अनुसार सात पुरुष तक ही होना चाहिए, इससे अधिक 16 पुरुषों में कैसे हैं ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त रीति से

दायसापिण्ड्य का 16 पुरुषों से सम्बन्ध होने पर भी उनका सात कक्षाओं में अन्तर्भाव हो जाता है और यहाँ कक्षाओं को लेकर सापिण्ड्य के साप्तपौरुष सिद्धान्त की उपपत्ति हो जाती है।

उपर्युक्त 16 पुरुषात्मक व सप्तकक्षात्मक दायाधिकारी पुरुष स्ववर्ग, पितृवर्ग, पितामहवर्ग व प्रपितामहवर्ग भेद से चार भागों में विभक्त हैं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनमें सबसे प्रथम दाय के अधिकारी स्ववर्ग के पुरुष होते हैं तदनन्तर क्रमशः पितृवर्ग, पितामहवर्ग व प्रपितामहवर्ग के पुरुष होते हैं। प्रतिवर्ग में भी सर्वतः प्रथम वर्गारम्भक पुरुष का, तदनन्तर पुत्र का, उसके बाद पौत्र का और सबसे अन्त में प्रपौत्र का अधिकार है। इस पूर्वापरभाव का कारण सन्निकर्षतारतम्य है। जिसका अनपत्य व्यक्ति के साथ जितना अधिक निकट सम्पर्क होगा वही सर्वप्रथम उसके दायभाग का अधिकारी होगा। **'यस्त्वासन्नतरस्तेषां सोऽनपत्यधनं हरेत्'** यह वचन भी इसी सिद्धान्त को प्रमाणित करता है। दायसापिण्ड्य का यही रहस्य है ।